ऐतरेयोपनिषद

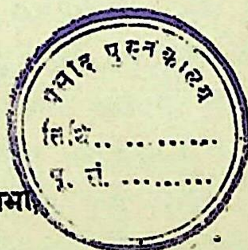
॥ ओ३म् ॥



ऐतरेयोपनिषद्

लेखकः—

महात्मा नारायणस्वामी जी महाराज



प्रकाशकः—

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा

देहली

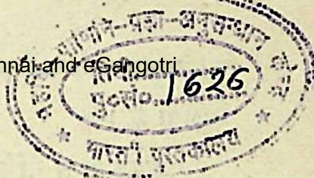
प्रथम वार १०००

१९३९

मूल्य दो आना

मुद्रक:—
लाला सेवाराम चावला
चन्द्र प्रिण्टिङ्ग प्रेस, नया बाजार
देहली





॥ ओ३म् ॥

भूमिका

इतरा नामक माता के पुत्र (महीदास) ऐतरेय के रचे हुए "ऐतरेयारण्यक" और ऐतरेय ब्राह्मण नामक दो ग्रन्थ हैं इन दोनों ग्रन्थों का सम्बन्ध ऋग्वेद से है। इसीलिए यह उपनिषद् ऋग्वेदीय उपनिषद् कही जाती है। छान्दोग्योपनिषद् में लिखा है कि इन ऐतरेय ऋषि ने, ब्रह्मचर्य के प्रताप से ११६ वर्ष की आयु प्राप्त की थी इनके रचे पहले (ऐतरेयारण्यक) ग्रंथ में पाँच आरण्यक हैं जिन में से दूसरे और तीसरे आरण्यक को उपनिषद् भाग कहते हैं। इन में प्राण और ब्रह्मविद्या अनेक अध्यात्म विद्याओं का वर्णन है जिन्हें अब प्राणोपनिषद् आदि नामों से पुकारा जाता है दूसरे आरण्यक के चौथे अध्याय से लेकर छठे अध्याय तक को एतरेयोपनिषद् कहते हैं। आरण्यक का यही भाग इस उपनिषद् के नाम से पृथक् छपा हुआ है। उसी पर आगे के पृष्ठों में कुछ लिखा गया है। इस आरण्यक का सातवां अध्याय शांति पाठ के ढंग का है। कोई कोई उसे भी उपनिषद् के साथ छाप दिया करते ? हमने इस टीका में केवल उतना ही भाग शामिल करना उचित समझा है जिस में ब्रह्म-विद्या की चरचा है और जिसे उपनिषद् कहते हैं उपनिषद् के चौथे खण्ड में आत्मा किस प्रकार गर्भ में आता है इन सब बातों

का उल्लेख है। कहीं कहीं इस खण्ड के आरम्भ में यह वाक्य मिलता है :—

"अपक्रामन्तु गर्भिण्यः" ।। अर्थात् गर्भिणी (स्त्रियां) चली जावें।" और फिर पाँचवें खण्ड के आरम्भ में मिलता है कि "यथा स्थानं तु गर्भिण्यः" अर्थात् गर्भिणी (स्त्रियां) अपने अपने स्थान पर वापिस आजावें। क्यों गर्भिणी स्त्रियों को, गर्भ सम्बन्धी बातों के जानने से वञ्चित किया जावे? यह बात हमारी समझ में नहीं आई, इस लिए हमने इन वाक्यों को अपनी टीका में स्थान नहीं दिया है।

यह उपनिषद् संक्षिप्त, परन्तु बड़े महत्त्व की है। पूरा यत्न किया गया है कि टीका में उसका महत्त्व कम न होने पावे।

इन्हीं कुछेक प्रारम्भिक शब्दों के साथ यह टीका, अध्यात्म विद्या के प्रेमियों के सम्मुख रक्खी जाती है।

रामगढ शैल
श्रावण शुक्ला सप्तमी
सम्वत् १९९५ वि०

नारायण स्वामी



ओ३म्

अथ ऋग्वेदीयैतरेयोपनिषद्

अथ प्रथमः खण्डः

—:※:—

आत्मा वा इद मेक एवाग्र आसीत्। नान्यत्किञ्चन मिषत्। स ईचत लोकान्नु सृजा इति ॥१॥

अर्थ—(आत्मा, वै, इदम्, एक, एव, अग्रे, आसीत्) निश्चय यह एक आत्मा ही पहले था। (मिषत्, अन्यत्, किञ्चन, न) आंख झपकाने वाला (चेतन प्राणी) और कोई नहीं (था)। (सः, ईक्षत, लोकान्, नु, सृजें, इति) उसने सोचा कि लोकों को रचूं।

व्याख्या—यह वर्णन महा प्रलय की अवस्था का है, जो इस सृष्टि की रचना से पहले थी। उस अवस्था में, प्रकृति अपने असली स्वरूप (कारणावस्था) में होती है और अव्यवहार्य दशा में रहती है। पिछली सृष्टि के अन्त में जो जीव होते हैं और जिन्हें, इस सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न होना होता है, वे प्रलय में शरीर रहित होने से, सुषुप्ति की सी, एक सुषुप्तावस्था में, रहते हैं। और उनका, किसी प्रकार का शारीरिक व्यवहार नहीं होता।

इसीलिये उन्हें, इस उपनिषद्वाक्यमें "न, मिषत्" ❀अर्थात् आँख खोलने बन्द करने (पलकों के झपकाने आदि) का व्यवहार न करने वाला कहा गया है। तात्पर्य यह कि चेतना का शारीरिक व्यवहार करने वाला कोई जीव भी उस (महा प्रलय) अवस्था में नहीं होता—मुक्त जीव अवश्य रहते हैं और अपने आनन्द के उपभोग आदि का सभी व्यवहार करते हैं परन्तु वे भी प्रत्येक प्रकार के शरीरों से रहित होते हैं, इसलिये "न मिषत्" शब्दों के अन्दर ही आजाते हैं। इसके सिवा उनको जगत् में, उत्पन्न होने का, मोक्ष की अवधी समाप्त न होने से, प्रकरण भी नहीं होता, इसलिये उनके यहाँ जिक्र करने का मौका भी नहीं था। जब इस प्रकार जीव और प्रकृति अव्यवहार्य-अवस्था में होती है तो यह कहना सर्वथा उचित है कि केवल परमात्मा ही महा प्रलय: अवस्था में अपने अपरिवर्तनीय और व्यवहार्य रूप में हुआ करता है। (†)

(२) उस प्रलयावस्था में मौजूद परमात्मा ने ईक्षण किया कि जगत् को रचूं। यह ईक्षण नैमित्तिक (किसी निमित्तसे) नहीं होता अपितु स्वाभाविक रीति से होता है क्योंकि ईश्वर का ज्ञान, बल,

---

❀ मिषत् चेतना का व्यवहार करने वाले प्राणियों को कहते हैं। देखो ऋग्वेद १०।१९०।२ (विश्वस्य मिषतो वशी)

(†) यजुर्वेद में भी ऐसा ही कहा गया (देखो १३।४) (हिरण्य गर्भः समवर्तताग्रे······)

क्रिया सभी स्वाभाविक होती हैं। * सृष्टि और प्रलय का चक्र नित्य है। प्रलय के समाप्त होने पर, अनादि काल से, नियत समय पर, यह ईक्षण, स्वभावतः, ईश्वर में हो जाया करता है।

स इमांल्लोकान सृजत। अम्भो मरीचीर्मरमापोऽदोऽम्भः परेण दिवं द्यौः प्रतिष्ठा ऽन्तरिक्षं मरीचयः। पृथ्वी मरो या अधस्तात्ता आपः ॥ २ ॥

अर्थ—(सः, अम्भः, मरीचीः, मरम् आपः, इमान्, लोकान्, असृजत) उस (ईश्वर) ने अम्भस्, मरीचीः, मरम् और आपः इन (चार) लोकों को रचा। (अदः, अम्भः परेण, दिवम्, द्यौः प्रतिष्ठा) वह अम्भस् (पहला लोक) है जो द्यौ से परे है और द्यौ ही इसका आधार है। (अन्तरिक्षम, मरीचयः) अन्तरिक्ष मरीचि (दूसरा लोक) है। (पृथिवी, मरः) पृथ्वी मर (तीसरा लोक है। (या, अधस्तात, ताः, आपः) जो नीचे (पृथ्वी के) है वह जल है।

व्याख्या—"अम्भस्"*—सूर्य्य अपनी किरणों के द्वारा जलों को खींचता है इसलिए वही अम्भस् है।

---

* स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च। (श्वेताश्वेतरोपनिषद् अ० ६ श्लोक ८)

*अम्भः के शब्दार्थ जल, आकाश, देव, मनुष्य, राक्षस और शक्ति के हैं।

(२) मरीची किरणों को कहते हैं उनका आना जाना आकाश द्वारा ही होता है इसलिए मरीची से अन्तरिक्ष अभिप्रेत है।

(३) मर—मरण धर्मा प्राणियों के रहने से "मर" नाम पृथ्वी का है।

(४) आप:—नीचे की ओर बहाव की प्रवृत्ति रखने से, जल के पृथ्वी से नीचे होने की बात कही गई है।

अर्थात पहले सूर्य, अन्तरिक्ष, पृथ्वी और जल उत्पन्न किए गए। जितने प्रकाशक लोक हैं; वे सभी सूर्य हैं और जितने अप्रकाशक लोक हैं वें सब पृथ्वी नाम से कहे जाते हैं दोनों के मध्य में अन्तरिक्ष (आकाश=ईथर) का होना स्वाभाविक ही है। जल जब तक सूक्ष्म (वाष्प के रूप में) रहता है, पृथ्वी से पहले पैदा होजाता है परन्तु वर्तमान रूप में जल जिसे सब पीते हैं, पृथ्वी के उत्पन्न होने के बाद ही आता है, इसी लिए उसे पृथ्वी के बाद का चौथा लोक कहा गया है। ये आकाश, जल और पृथ्वी के नाम केवल उपलक्षण के तौर पर लिए गए हैं तात्पर्य पंचभूतों के व्यक्त रूप ग्रहण करने से है॥ २॥

स ईक्षते मे नु लोका लोकपालान्नु सृजा इति।
सोऽद्भ्य एव पुरुषं समुद्धृत्यामूर्च्छयत् ॥ ३ ॥

अर्थ—(सः, ईक्षत इमे नु लोकाः) उस (ईश्वर) ने देखा ये लोक हैं, (लोकपालान् नु, सृजै, इति) अब मैं लोक पालों को बनाऊं। (सः, अद्भ्यः, एव, समुद्धृत्य, पुरुषम, अमूर्च्छतत)

उसने जलों से ही निकाल कर (विराट् रूपी) पुरुष को बनाया ॥ ३ ॥

व्याख्या—लोकों (पंचभूतों) की उत्पत्ति के बाद लोकपालों की उत्पत्ति का होना स्वाभाविक ही था। उसने लोक पालों की उत्पत्ति के प्रकरण में प्रथम जल* से निकाल कर एक पुरुष की

---

*"आपः" साधारण तया जिसे जल कहते हैं ऐसे प्रकरणों में प्रकृति की उस अव्यक्त अवस्था को कहते हैं, जिस में ईश्वर प्रदत्त गति से वह सक्रिय होकर सृष्टि की उत्पत्ति के क्रम को आगे चलाती है। इसी अवस्था वाली प्रकृति (आपः) के पुष्कर, नाराः, हिरण्यगर्भ, हिरण्याण्ड, पुण्डरीक आदि नाम भी हैं। शतपथ ब्राह्मण में एक जगह क.ा गया है :—

स यो ऽपां रसासीत्तमूर्ध्वं समुदौहन्, तामस्मै पुरमकुर्वंस्तद्यस्मै पुरम् कुर्वंस्तस्मात्पुष्करम्। पुष्करं ह वै तत्पुष्करमित्याचक्षते परोक्षम् ॥
(शतपथ० ७।४।१।१३)

अर्थात् अव्याकृत आप् (प्रकृति) का जो रस ऊपर आया वह पुर हुआ पुर बनाने के कारण उस आप् को पुष्कर कहते हैं ॥

उसी आप् से (विराट् रूपी) पुरुष बनाने की बात, इस उपखण्ड में कही गई है। तात्पर्य यह कि इसी आप् से नगर और उसमें प्रतिष्ठित होने वाले "विराट्" दोनों की रचना हुई।

बृहदारण्यकोपनिषद् में भी एक जगह, प्रारम्भ में इसी आप् के उत्पन्न होने की बात कही गई है:—

"नैवेह किंचनाग्रासीत् मृत्युनैवेदमावृत्तमासीत्।
सो ऽर्चन्नचरत् तस्यार्चन आपो ऽजायन्त ॥
(बृहदारण्यकोपनिषद् १।२)

रचना की "अमूर्च्छयत" का शब्दार्थ मूर्ति बनाई है। भाव यह है कि वह उत्पन्न पुरुष मूर्ति मय अर्थात् सशरीर था। उस पुरुष ही का नाम वैदिक साहित्य में "विराट्" है। विराट् वास्तव में एक कल्पित और अलङ्कारिक व्यक्ति है। पंचभूतों से उत्पन्न, सूर्य चन्द्रादि मय जगत् का एक समष्टि नाम विराट् है. †उस विराट् पुरुष के लिए अनेक जगह वर्णित है कि सूर्य चन्द्र उसकी आँखें हैं पृथ्वी उसका पाँव है और अन्तरिक्ष उदरस्थानी है। इत्यादि (२) जल शब्द का प्रयोग यहाँ समस्त (पंच) भूतों के लिए है। वह केवल उपलक्षण के तौर पर प्रयुक्त है। छाँदोग्योपनिषद् में एक जगह "तज्जलान्" ईश्वर का नाम वर्णित है। जिसका अभिप्राय है कि "तज्ज" "तल्ल" और "तदन्" अर्थात् (तज्ज) उसी से यह ब्रह्मांड पैदा होता है, (तल्ल) उसी में अन्त में लीन होजाता है और (तदन्) उसी में स्थिति काल में चेष्टा करता है। ‡इसलिए जल शब्द पंचभूतों को यहां कहा गया है कि वे (पंचभूत) उसी ईश्वर से उत्पन्न होकर उसी में लीन हो जाते हैं॥ ३॥

तमभ्यतपत्तस्याभितप्तस्य मुखं निरभिद्यत यथाण्डम्। मुखाद्वाग्वाचोऽग्निर्नासिके निरभिद्येतां नासिकाभ्यां प्राणः

---

† ततो विराडजायत...यजुर्वेद ३१।५।

‡ सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत॥

(छान्दोग्योपनिषद् ३।१४।१)

प्राणाद्वायुरक्षिणी निरभिद्येतामक्षिभ्यां चक्षुश्चक्षुष आदित्यः कर्णौ निरभिद्येतां कर्णाभ्यां श्रोत्रं श्रोत्राद्दिशस्त्वङ् निरभिद्यत त्वचो लोमानि लोमभ्य ओषधि वनस्पतयो हृदयं निरभिद्यत हृदयान्मनो मनसश्चन्द्रमा नाभिर्निरभिद्यत नाभ्या अपानोऽपानान्मृत्युः शिश्नं निरभिद्यत शिश्नाद्रेतोरेतस आपः ॥ ४ ॥

अर्थ—(तम्, अभ्यतपत्) उस (विराट् पुरुष) को (रचयिता ने) तपाया (अर्थात् ईश्वर प्रदत्त गति ने उसके भीतर काम किया) (तस्य, अभितप्तस्य, यथा, अण्डम्, मुखम्, निरभिद्यत) उस (विराट्) के अभितपित होने से (उसका) मुँह खुला जैसे अंडा (फटता है), (मुखात्, वाक्, वाचः, अग्निः) मुख से वाणी और वाणी से अग्नि (निकली), (नासिके, निरभिद्यताम्) नासिका के दो छिद्र निकले, (नासिकाभ्याम्, प्राणः, प्राणात, वायुः) नासिका से प्राण और प्राण से वायु (प्रकट हुआ), (अक्षिणी, निरभिद्येताम्) आँखें निकलीं, (अक्षिभ्याम्, चक्षुः, चक्षुषः, आदित्यः) आँखों से चक्षु, (देखने की शक्ति) और चक्षु से सूर्य (निकला), (कर्णौ, निरभिद्येताम्) कान खुले, कर्णाभ्याम्, श्रोत्रम्, श्रोत्रात, दिशः) कानों से श्रोत्र (श्रवण शक्ति) और श्रोत्र से दिशायें (प्रकट हुईं), (त्वङ्, निरभिद्यत) त्वचा निकली, (त्वचः लोमानि, लोमभ्यः, ओषधि, वनस्पतयः) त्वचा से लोम और लोम से औषधि और वनस्पति (उत्पन्न हुईं,)

(हृदयम्, निरभिद्यत) हृदय खुला, (हृदयात , मनः, मनसः, चन्द्रमा) हृदय से मन और मन से चन्द्रमा (प्रकट हुआ); (नाभिः निरभिद्यत) नाभि खुली, (नाभ्या, अपानः, अपानात्, मृत्युः) नाभि से अपान और अपान से मृत्यु (व्यक्त हुई), (शिश्नम्, निरभिद्यत, शिश्नात्, रेतः, रेतसः, आपः) प्रजननेन्द्रिय निकली और प्रजननेन्द्रिय से वीर्य और वीर्य से जल (प्रकट हुआ) ॥ ४)

इति प्रथमः खण्डः ॥

व्याख्या—ईश्वर प्रदत्त गति से जड़ और गति शून्य प्रकृति, विचेष्टित हुई और उसके विचेष्टित होने से लोक प्रकट हुये और लोकपालों (मनुष्यों) के उत्पन्न करने के लिये, विराट् पुरुष उत्पन्न हुआ। अब इस खण्ड में यह दिखलाया गया है कि उस विराट् पुरुष के, किस प्रकार इन्द्रिय छिद्र उत्पन्न हुये और किस प्रकार उन इन्द्रिय छिद्रों से इन्द्रिय और मन और किस प्रकार उन इन्द्रिय और मन से स्थूलभूतस्थ अग्नि आदि उत्पन्न हुए। हम यहाँ एक चित्र देते हैं जिससे, इस खण्ड में वर्णित सभी बातें साफ़ तौर से प्रकट हो जावें और उनके समझने में किसी प्रकार की कठिनता न हो:—

चित्र जिसका प्रथम खण्ड के उपखण्ड ४ में उल्लेख है

क्रम संख्या	विराट् पुरुष के इन्द्रियों के छिद्र	विराट् पुरुष के इंद्रिय छिद्रोंसे उत्पन्न हुए		विशेष
		विराट् के शरीर में	स्थूल जगत् में	
१	मुख	वाणी	अग्नि	
२	नासिका	प्राण	वायु	
३	आक्षेणी (दोनों आँखों के छिद्र)	चक्षु	आदित्य	
४	कर्णछिद्र	श्रोत्र	दिशा	
५	त्वक्	लोम	औषधि तथा वनस्पति	
६	हृदय	मन	चन्द्रमा	
७	नाभि	अपान	मृत्यु	
८	शिश्न	वीर्य्य	जल	

नोट—उपनिषद् का उपर्युक्त कथन प्रायः वेदानुसार हैः—

चन्द्रमा मनसोजातश्चक्षोः सूर्योअजायत ।
श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत ॥

(यजु० ३१।१२)

अथ द्वितीयो खंडः

—:o:—

ता एता देवताः सृष्टा अस्मिन्महत्यर्णवे प्रापतं-स्तमशनापिपासाभ्यामन्ववार्जत् । ता एनमब्रुवन्नायतनं नः प्रजानीहि यस्मिन्प्रतिष्ठिता अन्नमदामेति ॥ १ ॥ ताभ्योगामानयत्ता अब्रुवन्नवै नोऽयमलमिति । ताभ्योऽश्व-मानयत्ता अब्रुवन्नवै नोऽयमलमिति ॥ २ ॥ ताभ्यः पुरुष-मानयत्ता अब्रुवन् सुकृतं वतेति पुरुषो वाव सुकृतम् । ता अब्रवीद्यथायतनं प्रविशतेति ॥ ३ ॥

अर्थ—(ताः, एताः, देवताः, सृष्टाः, अस्मिन्, महति, अर्णवे, प्रापतन्) वे ये (अग्नि आदि) देवता रचे जाने पर इस बड़े समुद्र (आकाश) में पहुँचे । (तम्, अशनापिपासाभ्याम्, अनु-अवार्जत्) उस (विराट् पुरुष) को (उसी आत्मा=परमेश्वर ने) भूख प्यास से युक्त किया । (ताः, एनम् , अब्रुवन् , आयतनम् , नः, प्रजानीहि) वे (अग्नि आदि देवता) इस (आत्मा=ईश्वर) से बोले कि हमारे लिये स्थान बतलाओ (यस्मिन् , प्रतिष्ठिताः, अन्नम् , अदाम , इति) जिसमें ठहर कर हम अन्न खावें ॥१॥

(ताभ्यः, गाम, आनयत्) उनके लिये गाय लाई गई (ताः,

अब्रुवन्) वे (देवता) बोले (न, वै, नः, अयम् , अलम् , इति) निश्चय हमारे लिये यह काफ़ी नहीं है। (ताभ्यः, अश्वम् , आनयत्) उनके लिये (तब) घोड़ा लाया गया (ताः, अब्रुवन्) वे बोले (न, वै, नः, अयम् , अलम् , इति) हमारे लिये यह भी काफ़ी नहीं ॥ २ ॥

(ताभ्यः, पुरुषम, आनयत्) उनके लिये (तब) मनुष्य लाया गया। (ताः, अब्रुवन्) वे बोले (सुकृतम्, वत, इति) अहो; यह अच्छा बना है। (पुरुषः, वाव, सुकृतम्) निस्संदेह मनुष्य ही (इस सृष्टि में) बहुत अच्छा बना है। (ताः, अब्रवीत) उन (देवों) को (उसी आत्मा=ईश्वर ने) कहा (यथा, आयतनम्, प्रविशत, इति) यथा स्थान (इस मनुष्य में) प्रवेश करो ॥ ३ ॥

व्याख्या—उस विराट् पुरुष के इन्द्रियों से, अग्नि आदि देव, उत्पन्न होकर ब्रह्माण्ड में दाखिल हुए और उन्होंने अपने लिये ईश्वर से निवास के लिये स्थान की याचना की और गाय और घोड़े को लाये जाने पर, उन देवों ने अपने ठहरने के लिये, उन्हें पसन्द नहीं किया। तब मनुष्य लाया गया और उसे उन्होंने पसन्द किया। क्यों मनुष्य पसन्द किया गया ? कारण स्पष्ट हैं कि वाणी आदि इन्द्रियों का, जितना उत्तम व्यवहार, इस (मनुष्य) योनि में हो सकता है वैसा नीचे के अन्य योनियों में नहीं हो सकता। इसीलिये मनुष्य इस सृष्टि में सर्वोत्तम प्राणी जाना और माना जाता है।

अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशद्वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशदादित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशद्दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्नोषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशंश्चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशन्मृत्यु-रपानो भूत्वा नाभिं प्राविशदापो रेतोभूत्वा शिश्नं प्राविशन् ॥४॥६

अर्थ—(अग्निः, वाक्, भूत्वा, मुखम्, प्राविशत्) अग्नि वाणी होकर मुख में प्रविष्ट हुआ। (वायुः, प्राणः, भूत्वा, नासिके, प्राविशत्) वायु प्राण होकर नासिकामें दाखिल हुआ। (आदित्यः, चक्षुः, भूत्वा, अक्षिणी, प्राविशत्) सूर्य्य, चक्षु होकर आंखों में पहुंचा। (दिशः, श्रोत्रम्, भूत्वा, कर्णौ, प्राविशन्) दिशायें श्रोत्र होकर कानों में पहुँची। (ओषधि वनस्पतयः, लोमानि, भूत्वा, त्वचम्, प्राविशन्) औषधि और वनस्पति लोम होकर त्वचा में प्रविष्ट हुईं। (चन्द्रमा, मनः, भूत्वा, हृदयम्, प्राविशत्) चन्द्रमा मन होकर हृदय में पहुँचा। (मृत्युः, अपानः, भूत्वा, नाभिम्, प्राविशत्) मृत्यु अपान होकर नाभि में दाखिल हुआ। (आपः, रेतः, भूत्वा, शिश्नम्, प्राविशन्) जल वीर्य्य होकर जननेन्द्रिय में प्रविष्ट हुये ॥४॥

व्याख्या—विराट् पुरुष के इन्द्रियों से, अग्नि आदि देवताओं की उत्पत्ति का एक चित्र, इससे पहले दिया जा

चुका है। अब यहां हम एक दूसरा चित्र देते हैं जिससे प्रकट होगा कि जो देवता विराट् पुरुष की इन्द्रियों से उत्पन्न हुये थे वे किस प्रकार मनुष्य की इन्द्रियों की उत्पत्ति का कारण बने:—

क्रम संख्या	विराट पुरुष की इन्द्रिय	उनसे किस भूत की उत्पत्ति हुई	उस भूतसे मनुष्य की कौनसी इन्द्रियाँ बनीं	विशेष
१	वाणी	अग्नि	वाणी	मुख में प्रविष्ट हुए
२	प्राण	वायु	प्राण	नासिका में ,, ,,
३	चक्षु	आदित्य	चक्षु	आंखों में ,, ,,
४	श्रोत्र	दिशा	श्रोत्र	करणों में ,, ,,
५	(त्वक्)लोम	औषधि तथा वनस्पति	लोम	त्वचा में ,, ,,
६	मन	चन्द्रमा	मन	हृदय में ,, ,,
७	अपान	मृत्यु	अपान	नाभि में ,, ,,
८	(शिश्न) वीर्य	जल	रेत	शिश्न में ,, ,,

चित्र से स्पष्ट है कि विराट् पुरुष की इन्द्रिय छिद्रों से उसकी जो जो इन्द्रिय उत्पन्न हुई थीं और उनसे जिस जिस भूत की उत्पत्ति हुई थी, उन भूतों ने मनुष्य शरीर में उन्हीं उन्हीं इन्द्रियों

को उत्पन्न किया और स्वयं वे भूत मनुष्य शरीरान्तर्गत उन्हीं उन्हीं इन्द्रिय छिद्रों में समाविष्ट हुये जिनसे विराट् पुरुष के शरीर में उनके उत्पादक इन्द्रिय उत्पन्न हुई थीं। (७) इन भूतों ने मनुष्य शरीर में जिन जिन इन्द्रियों को उत्पन्न किया था उन उन इन्द्रियों में उनके उत्पादक भूतों का प्रभाव मौजूद पाया जाता है। इसी को स्पष्ट करने के लिये कुछ बातें यहां अङ्कित की जाती हैं:—

(१) अग्नि—वाणी तथा मुख—वाणी में तेजस्विता का होना, वाणी की विशेषता समझी जाती है। तेज अग्नि ही से उत्पन्न होता है। इसलिये वाणी में अग्नि के प्रभाव का होना स्पष्ट है। मुख में भी अग्नि का प्रभाव मौजूद है। इस सम्बन्ध में दो बातों के ध्यान में रखने की ज़रूरत है:—(१) मनुष्य जब भोजन करता है तो उस भोजन के साथ मुखस्थ अग्नि अव्यक्त-रूप में मेदे में पहुँचती है और मेदे में कतिपय रासायनिक क्रियाओं के होने का, जो स्वभावतः ह्रास करती हैं, यह फल होता है कि वह अव्यक्त अग्नि व्यक्त होकर जठराग्नि के रूप में परिवर्तित होकर भोजन के पचाने का कारण बना करता है। (२) मृत्यु के समय जब मनुष्य का सारा शरीर ठंढा होजाता है तब भी मुख में गरमी बाक़ी रहा करती है और इसीलिये जब बग़ल में थर्मामीटर (Thermometer) नहीं लगता तब भी मुँह में लग जाया करता है। तात्पर्य यह है कि अन्त समय आने पर मुँह में अन्त तक गरमी बनी रहा करती है। सबसे अन्त में वह गरमी मुँह से निकला करती है।

वायु—प्राण और नासिका—प्राण वायु ही का एक अंश होता है, यह तो स्पष्ट ही है

(३) आदित्य—चक्षु और आक्षेणी (चक्षु गोलक)—आदित्य के प्रकाश ही से आँखों में प्रकाश आता है, यह बात किसी से भी छिपी नहीं है।

(४) दिशा—श्रोत्र और करण—दिशा नाम आकाश का है। शब्द आकाश का गुण है और आकाश (ईश्वर) के द्वारा ही सुना जाया करता है। इसलिये दिशा का श्रोत्रेन्द्रिय से सम्बन्ध भी स्पष्ट ही है।

(५) औषधि और वनस्पति—लोम और त्वचा—औषधि गेहूं आदि को कहते हैं जो एक बार फल देकर सूख जाया करती हैं। अन्यों को वनस्पति और वृक्ष कहते हैं। औषधि और वनस्पति के सेवन ही से शरीर और त्वचा बना करती है और त्वचा के बन जाने पर उसमें त्वगिन्द्रियत्व आया करता है।

(६) चन्द्रमा—मन और हृदय—जिस प्रकार मुख का सम्बन्ध अग्नि से है उसी प्रकार हृदय का सम्बन्ध शीतलता से है। हृदय के शान्त होने को ही हृदय का ठंढा होना कहते हैं। इसलिए चन्द्रमा की शीतलता हृदय को आल्हाद का कारण हुआ करती है।

(७) मृत्यु—अपान और नाभि—अपान का मुख्य केन्द्र नाभि है परन्तु उसका कार्य मल और मूत्रेन्द्रियों से सम्बन्धित है। नाभि शरीर का केन्द्र है। गर्भ में बालक नाभि के द्वारा ही

पोषण रस ग्रहण किया करता है। यदि शरीर से ठीक रीति से मल न निकलता रहे तो वह मनुष्य की मृत्यु का कारण हो जाया करता है। इसलिए प्राण के अन्य विभागों की तरह अपान का स्थान भी उनमें महत्व पूर्ण है। इसके सिवा अपान यहाँ उपलक्षण के तौर पर है तात्पर्य सभी प्राणों से है। प्राण के रहने से मनुष्य जीवित रहा करता है। प्राण का मनुष्य के शारीरिक सङ्गठन से इतना महत्व है कि उसका नाम ही प्राणी है। आत्मा को सूक्ष्म शरीर के साथ एक शरीर से निकाल कर अपेक्षित स्थान (योनि) में पहुंचाना प्राण ही का काम है।

(८) जल—रेत और शिश्न वीर्य का रूप जलीय ही है। उसमें अधिकाँश भाग जल का होता है, यह स्पष्ट ही है।

तमशनापिपासे अब्रूतामावाभ्यामभि प्रजानीहीति ते अब्रवीदेतास्वेव वां देवतास्वाभजाम्येतासु भागिन्यौ करोमीति। तस्माद्यस्यै कस्यै च देवतायै हविर्गृह्यते भागिन्यावेवास्यामशनापिपासे भवतः॥ ५ ॥

इति द्वितीयो खण्डः

अर्थ—(तम्, अशनापिपासे, अब्रूताम्) उस (आत्मा= परमेश्वर) को भूख प्यास ने कहा (आवाभ्याम्, अभि प्रजानीहि, इति) हम दोनों के लिए स्थान बतलाओ ? (ते अब्रवीत) उन दोनों को (उस आत्मा ने) कहा (एतासु, एव, वाम्, देवतासु, आभजामि) इन्हीं देवताओं (अग्नि आदि) में तुम

दोनों को साथी बनाता हूं। (एतासु, भागिन्यौ, करोमि, इति) इन्हीं में हिस्सेदार बनाता हूँ। (तस्मात्, यस्यै, कस्यै, च, देवतायै, हविः, गृह्यते) इसलिए जिस किसी देवता के लिए हवि ग्रहण की जाती है, (भागिन्यौ, एव, अस्याम्, अशनापिपासे, भवतः) उसमें भाग लेने वाली भूख प्यास होती हैं ॥ ५ ॥

व्याख्या—संसार का समस्त काम चलाने वाली दो शक्तियाँ हैं जिन्हें भूख और प्यास कहते हैं। ये ही संसार के प्रत्येक बढ़ने और काम करने वाले पदार्थों के बढ़ने और काम करने का कारण हुआ करती हैं। प्राणी अप्राणी सभी में इनका साम्राज्य है।

मनुष्य के अन्दर, इन्द्रियों में, जो दिव्य आग्नेय आदि शक्तियाँ हैं, उन सभी में और उन से बाहर जो वानस्पत्य आदि जगत् है उन सब में, भूख प्यास काम करती हैं। खाद्य और पेय पदार्थ सब के पृथक् पृथक् हैं। मनुष्य को खाने पीने के लिए अन्न और पानी की आवश्यक्ता है, वृक्षादि के लिए खाद्य और जल अपेक्षित होता है।

नेत्रादि के लिए रूप, रस आदि अन्न और जल का काम देते हैं। अग्नि के लिए हवि समिधा आदि की आवश्यक्ता होती है निदान जगत् में कोई वस्तु नहीं, जिनको किसी न किसी रूप में भूख प्यास की जरूरत न पड़ती हो ॥ ५ ॥

इति द्वितीयो खण्डः

अथ तृतीयो खण्डः



स ईक्षतेमे नु लोकाश्च लोकपालाश्चान्नमेभ्यः सृजा इति ॥ १ ॥ सोऽपोऽभ्यतपत्ताभ्योऽभितप्ताभ्यो मूर्त्तिरजायत। या वै सा मूर्त्तिरजायतान्नं वै तत् ॥ २ ॥ तदेतदभिसृष्टं पराङत्यजिघांसत्तद्वाचा जिघृक्षत्तन्नाशक्नोद्वाचा ग्रहीतुम्। स यद्धैनद्वाचाऽग्रहैष्यदभिव्याहृत्य हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ३ ॥ तत्प्राणेनाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोत्प्राणेन ग्रहीतुम्। स यद्धैनत्प्राणेनाग्रहैष्यदभिप्राण्य हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ४ ॥ तच्चक्षुषाऽजिघृक्षत्तन्नाशक्नोच्चक्षुषा ग्रहीतुम्। स यद्धैनच्चक्षुषाऽग्रहैष्यद् दृष्ट्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ५ ॥ तच्छ्रोत्रेणाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोच्छ्रोत्रेण ग्रहीतुम्। स यद्धैनच्छ्रोत्रेणाग्रहैष्यच्छ्रुत्वा हैवान्नमत्रप्स्यात् ॥ ६ ॥ तत्त्वचाऽजिघृक्षत्तन्नाशक्नोत्त्वचा ग्रहीतुम्। स यद्धैनत्त्वचाऽग्रहैष्यत्स्पृष्ट्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ७ ॥ तन्मनसाऽजिघृक्षत्तन्नाशक्नोन्मनसा ग्रहीतुम्। स यद्धैनन्मनसाऽग्रहैष्यद् ध्यात्वा हैवान्नमत्रप्स्यत ॥ ८ ॥ तच्छिश्नेनाजिघृक्षत्तन्नाशक्नो

क्नोच्छिश्नेन ग्रहीतुम् । स यद्धैनच्छिश्नेनाग्रहैष्यद्विसृज्य हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ६ ॥ तदपानेनाजिघृक्षत्तदावयत् । स एषोऽन्नस्य ग्रहो यद्वायुरन्नमायुर्वा एष यद्वायुः ॥१०॥

अर्थ—(सः, ईक्षत, इमे, नु, लोकाः, च, लोकपालाः, च, अन्नम्, एभ्यः, सृजै इति) उस (आत्मा=ईश्वर) ने देखा कि यह लोक और लोकपालक हैं अन्न इनके लिए बनाऊं ॥ १ ॥

(सः, आपः, अभ्यतपत्) उसने जलों (आप रूप अव्याकृत प्रकृति) को न पाया (ताभ्यः, अभितप्ताभ्यः, मूर्तिः, अजायत) उनके तपने से मूर्त्ति उत्पन्न हुई । (या, वै, सा, मूर्तिः, अजायत, अन्नम्, वै, तत्) जो वह मूर्त्ति उत्पन्न हुई, वही अन्न है ॥ २ ॥

(तत्, एतत्, अभिसृष्टम् पराङ्, अत्यजिघाँसत्) उस इस रचे हुए अन्न ने परे हठ जाने की चेष्टा की (तत्, वाचा, अजिघृक्षत्) उसको वाणी से पकड़ना चाहा (तत्, न, अशक्नोत् वाचा, ग्रहीतुम्) उसको वाणी से पकड़ने में समर्थ न हुआ। (सः, यत्, ह, एनत्, वाचा, अग्रहैष्यत) वह जो इस वाणी से पकड़ लेता तो (अभिव्याहृत्य, ह, एव, अन्नम्, अत्रप्स्यत) अन्न का नाम लेकर ही तृप्त हो जाता ॥ ३ ॥

(तत् प्राणेन अजिघृक्षत) उसको प्राण से पकड़ना चाहा (तत्, न, अशक्नोत्, प्राणेन, ग्रहीतुम्) उसे प्राण से न पकड़ सका (सः, यत्, ह, एनत्, प्राणेन अग्रहैष्यत्) वह जो इसको

प्राण से पकड़ लेता तो (अभि, प्राण्य, ह, एव, अन्नम्, अत्रप्स्यत्) अन्न को सूंघ कर ही तृप्त हो जाता ॥ ४ ॥

(तत्, चक्षुषा, अजिघृक्षत्) उस (अन्न) को आँख से ग्रहण करना चाहा (तत्, न, अशक्नोत्, चक्षुषा ग्रहीतुम्) उसको आँख से नहीं ग्रहण कर सका। (सः, यत्, ह, एनत् चक्षुषा, अग्रहैष्यत्) वह उसे यदि आँख से ग्रहण करलेता (तो) दृष्ट्वा, ह, एव, अन्नम्, अत्रप्स्यत्) अन्न को देखकर ही तृप्त हो जाया करता ॥ ५ ॥

(तत्, श्रोत्रेण, अजिघृक्षत्) उसको कान से ग्रहण करना चाहा (परन्तु) (तत्, न, अशक्नोत्, श्रोत्रेण ग्रहीतुम्) उसे कान से ग्रहण नहीं कर सका (सः, यत्, ह, एतत्, श्रोत्रेण, अग्रहैष्यत) यदि वह इसको श्रोत्र से ग्रहण कर सकता (तो) (श्रुत्वा, ह, एव, अन्नम्, अत्रप्स्यत्) अन्न का नाम सुनकर ही तृप्त होजाता ॥ ६ ॥

(तत्, त्वचा, अजिघृक्षत्) उसको त्वचा से ग्रहण करना चाहा (परन्तु) (तत्, न, अशक्नोत्, त्वचा, ग्रहीतुम्) उसे त्वचा से नहीं ग्रहण कर सका (यदि) (सः, यत्, ह, एनत्, त्वचा, अग्रहैष्यत) वह उसे त्वचा से ग्रहण कर सकता (तो) (स्पृष्ट्वा, ह, एव, अन्नम्, अत्रप्स्यत्) अन्न को छू कर ही तृप्त हो जाता ॥ ७ ॥

(तत्, मनसा, अजिघृक्षत्) उसे मन से पकड़ना चाहा (परन्तु) (तत्, न, अशक्नोत्, मनसा, ग्रहीतुम्) उसे मन से

पकड़ न सका, (सः, यत्, ह, एनत्, मनसा, अग्रहैष्यत्) वह जो उसे मन से पकड़ लेता (तो) (ध्यात्वा, ह, एव, अन्नम्, अत्रप्स्यत्) अन्न का ध्यान करके ही तृप्त हो जाता ॥ ८ ॥

(तत्, शिश्नेन, अजिघृक्षत्) उसको जननेन्द्रिय से पकड़ना चाहा (परन्तु) (तत्, न, अशक्नोत्, (शिश्नेन, ग्रहीतुम्) वह उसे जननेन्द्रिय से पकड़ न सका (यदि) (सः, यत्, ह, एनत्, शिश्नेन, अग्रहैष्यत्) वह जो उसे शिश्न से पकड़ लेता (तो) (विसृज्य, ह, एव, अन्नम्, अत्रप्स्यत्) अन्न को (वीर्य की तरह) त्याग कर ही तृप्त हो जाया करता ॥ ९ ॥

(तत्, अपानेन, अजिघृक्षत्) उस (अन्न) को अपान से ग्रहण करना चाहा (तत्, आवयत्) उसने इसे पकड़ लिया (सः, एषः, अन्नस्य, ग्रहः, यत्, वायुः, अन्नायुः, वा, एषः, यत्, वायुः) सो जो यह वायु (अपान) है अन्न का ग्रहण करने वाला है। अथवा यह वायु ही अन्नायु है ॥ १० ॥

व्याख्या—उसी आत्मा (ईश्वर) ने जब लोकों और लोकपालों को बना हुआ देखा तब उसने इनके लिये भोज्य (अन्न) बनाने का विचार किया और उन्हीं जलों का, जिसका इससे पहले उल्लेख हो चुका है, संचालित किया उससे अन्न पैदा हुआ अब लोकपाल (मनुष्य) किस प्रकार उस अन्न को ग्रहण करें ? उस अन्न को वाणी, प्राण (नासिका), चक्षु, श्रोत्र, त्वचा, मन और शिश्न से ग्रहण करना चाहा परन्तु इनके द्वारा वह ग्रहण नहीं किया जा सका। तब अपान द्वारा उसे ग्रहण करना चाहा। यहाँ

अपान समस्त प्राणों के प्रतिनिधि के रूप में है और उपलक्षण के तौर पर उसका नाम लिया गया है, तात्पर्य समस्त प्राण वायुओं से है। अपान ने उसे ग्रहण कर लिया। क्यों अपान अथवा प्राणों ने उसे ग्रहण कर लिया? इसका उत्तर यह है कि (अन्न) (भोजन) जब कण्ठ में पहुँचता है तब उसे यह प्राण (उदान) ही कण्ठ से उदर में ले जाता है। इसलिये स्पष्ट है कि भोजन का ग्रहण करना प्राण वायु ही का काम है। 'वी धातु' जिससे वायु बनता है उसके अर्थ भी ग्रहण करने और खाने के हैं। इसीलिये यहाँ उचित रीति से वायु को "अन्नायु" कहा गया है। आयु शब्द के अर्थ भी वायु के हैं, अतः अन्नायु का अर्थ है "अन्न का ग्रहण करने वाला" वायु।

स ईक्षत कथं न्विदं मदृते स्यादिति स ईक्षत कतरेण प्रपद्या इति। स ईक्षत यदि वाचाऽभिव्याहृतं यदि प्राणेनाभिप्राणितं यदि चक्षुषा दृष्टं यदि श्रोत्रेण श्रुतं यदि त्वचा स्पृष्टं यदि मनसा ध्यातं यद्यपानेनाभ्यपानितं यदि शिश्नेन विसृष्टमथ कोऽहमिति ॥ ११ ॥ स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत। सैषा विदृतिर्नाम द्वास्तदेतन्नान्दनं तस्य त्रय आवसथास्त्रयः स्वप्ना अयमावसथोऽयमावसथोऽयमावसथ इति ॥ १२ ॥ स जातो भूतान्यभिव्यैख्यत् किमिहान्यं वावदिषदिति। स एतमेव पुरुषं ब्रह्म तत-

मपश्यदिदमदर्शमहो ॥ १३ ॥ तस्मादिदन्द्रो नामेदन्द्रो ह वै नाम। तमिदन्द्रंसन्तमिंद्रमित्याचक्षते परोक्षेण परोक्षप्रिया इव हि देवाः परोक्षप्रिया इव हि देवाः ॥१४॥

इति तृतीय खण्डः।

अर्थ—(सः, ईक्षत, कथम्, नु, इदम्, मत, ऋते, स्यात्, इति) उसी (आत्मा) ने देखा कि कैसे यह (इन्द्रिय मय शरीर) मेरे बिना (जीव के बिना) रह सकता है? (सः, ईक्षत, कतरेण, प्रपद्यै इति) उसने सोचा कि किस (मार्ग) से प्रवेश करूं? (सः, ईक्षत, यदि, वाचा, अभिव्याहृतम) यदि वाणी से (बिना मेरे = आत्मा के) बोल लिया गया (यदि प्राणेन, अभि-प्राणितम्) यदि प्राण (नासिका) ने सूंघ लिया (यदि, चक्षुषा, दृष्टम्) यदि आंखों से देख लिया गया, (यदि श्रोत्रेण, श्रुतम्) यदि कान से सुन लिया गया, (यदि, त्वचा, स्पृष्टम्) यदि त्वचा ने स्पर्श करलिया, (यदि, मनसा, ध्यातम्) यदि मन से संकल्प कर लिया गया, (यदि, अपानेन, अभि, अपानितम्) यदि अपान ने अपना काम करलिया, (यदि, शिश्नेन, विसृष्टम्) यदि प्रजननेन्द्रिय ने (वीर्य) छोड़ दिया (अथ, कः, अहम्, इति) तब मैं क्या कहूँ? ॥ ११ ॥

(सः, एतम्, एव, सीमानं, विदार्य, एतया, द्वारा, प्रापद्यत) वह इसही सीमा को फाड़कर इसके द्वारा प्रविष्ट हुआ। (सा, एषा, विदृति, नाम, द्वाः) वह यह द्वार 'विदृति' नाम वाला है (तत्,

एतत्, नान्दनम्) वह यह (द्वार) आनन्द की जगह है। (तस्य, त्रयः, आवस्थाः, त्रयः, स्वप्नाः) उस (आत्मा) के रहने के तीन स्थान हैं और तीन ही स्वप्न हैं (अयम् ,आवसथः, अयम् आवसथः, अयम्, आवसथः) यह स्थान है, यह स्थान है, यह स्थान है, ॥ १२ ॥

(सः, जातः, भूतानि, अभिव्यैख्यत्) उस उत्पन्न हुए (जीव) ने भूतों को देखा (किम्, इह, अन्यम्, वावदिषत्, इति) क्या यहां अन्य से बोले ? (सः, एतम्, एव, पुरुषं, ब्रह्म, ततम्, अपश्यत् उस (आत्मा) ने इसी ही महान् और व्यापक पुरुष (ईश्वर) को देखा (इदम्, अदर्शम, अहो) अहो इसको देखो ॥ १३ ॥

(तस्मात्, इदन्द्रः, नाम, इदन्द्रः, ह, वै, नाम) इस लिये उसका इदन्द्र नाम है, इदन्द्र यह नाम है। (तम्, इदन्द्रम्, सन्तम्, इन्द्रम्, इति, आचक्षते परोक्षेण) उसको इदन्द्र होते हुए परोक्ष से इन्द्र कहते हैं, परोक्ष, प्रियाः, इव, हि, देवाः) देव परोक्ष प्रिय होते हैं (परोक्ष, प्रियः, इव, हि, देवाः) देव परोक्ष प्रिय होते हैं (परोक्ष, प्रियः इव, हि, देवाः) देव परोक्ष प्रिय होते हैं ॥ १४ ॥

व्याख्या—इस उपखण्ड में कतिपय आवश्यक बातें, विस्तृत व्याख्या चाहती हैं उनमें से प्रत्येक का विवरण नीचे दिया जाता है :—

(१) इन्द्रिय मय शरीर जड़ है । अन्तःकरण चतुष्टय भी जड़ हैं शरीर के अन्दर आत्मा के रहने और उसकी चेतना के

प्रकाश से प्रकाशित होने से समस्त अन्तः और बहिः करण, किया करते हैं। रसायन शास्त्र (Chemistry) में जिस प्रकार एक वस्तु के उपस्थित होने मात्र से अन्य या अनेक वस्तुयें मिल जाती हैं * और जिस प्रकार उस मिश्रण से वह पहली वस्तु सर्वथा अलग ही रहा करती है । इसी प्रकार आत्मा के शरीर में होने मात्र से, समस्त शरीरावयव, रक्तसंचार, पाचन क्रिया आदि का कार्य स्वयमेव करने लगते हैं। अवश्य इन्द्रियाँ जो इरादे का काम करती हैं, उस इरादे का प्रारम्भ जीवात्मा ही से हुआ करता है। इसीलिए यहाँ जीव सोचता है कि यदि बिना मेरे ही समस्त इन्द्रियाँ अपना अपना व्यापार कर सकती हैं तो शरीर में मेरा होना न होना एक जैसा है। परन्तु बिना जीव के शरीर का कोई भी व्यापार, चाहे वह इच्छित हो या अनिच्छित, नहीं हो सकता इसी लिए आवश्यक्ता है कि शरीर में आत्मा रहे।

(२) इसी बात को दृष्टि में रख कर, आत्मा ने शरीर की सीमा को फाड़कर शरीर में प्रवेश किया ! इसी लिए उस प्रवेश द्वार का नाम "विदृति" (फाड़ा या छिद्र किया हुआ) है वह प्रवेश द्वारा मूर्धा का अन्तिम (ब्रह्म रन्ध्र) चक्र समझा जाता है। इसी द्वार का दूसरा नाम "नान्दन" (आनन्द दायक) है।

(क) आत्मा से अभिप्राय क्या है ? शिर की राह से जो आत्मा शरीर में प्रविष्ट होता है उस आत्मा से अभिप्राय

---

* रसायन शास्त्र में उस वस्तु का नाम 'कैटेलाइटिक' (Catalytic) है।

परमात्मा है या जीवात्मा विचार करने से यह बात साफ तौर से प्रकट होती है कि इस खण्ड में प्रयुक्त "आत्मा" शब्द ईश्वर और जीव दोनों के लिए प्रयुक्त हुआ करता है। इस बात को प्रायः सभी जानते हैं। जिस शरीर में आत्मा के प्रविष्ट होने का प्रश्न है, यह वह शरीर नहीं जिसे विराट् कहते हैं और जो अव्याकृत प्रकृति (आप) से बनाया गया था और जिसमें उस का बनाने वाला आत्मा (परमात्मा) प्रविष्ट समझा जाता है क्योंकि उसी का तो यह सूर्य और चन्द्र रूपी नेत्र वाला, विस्तृत (विराट् रूपी कल्पित) शरीर, समझा और माना जाता है। अपितु यह मनुष्य का शरीर है। इस मनुष्य शरीर में आत्मा और परमात्मा दोनों प्रकाश और छाया के सदृश, प्रविष्ट हैं। ※ और दोनों के प्रविष्ट होने ही से शरीर का व्यापार चला करता है। प्राणियों (मनुष्यों के शरीर में जीवात्मा "अभिमानी जीवात्मा" संज्ञक होता है और इसी लिए वह शरीर का कारोबार चलाने में मन और इन्द्रिय के साथ होजाया करता है और ये तीनों ही मिल कर कर्ता और भोक्ता हुआ करते हैं। ‡ परन्तु परमात्मा इन शरीरों में अपने व्यापकत्व से अनुशयी आत्मा के तौर पर रहा करता है और इसी लिए इन शरीरों में उसे

※ गुहाम्प्रविष्टौ परमे परार्द्धे। छायातपौ ब्रह्म विदो वदन्ति... (कठोपनिषद् ३।१।

‡ आत्मेन्द्रिय मनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥ कठोपनिषद् ३।४)

अनुप्रविष्ट कहा जाया करता है। ॐ

तात्पर्य इन सब का यह है कि जहाँ मनुष्य शरीर में शिर के मार्ग से आत्मा का प्रवेश वर्णन किया गया है वहाँ आत्मा के प्रवेश का अभिप्राय यह है कि अभिमानी आत्माके तौर पर जीव ने और अनुशयी आत्मा के तौर पर परमात्माने अनुप्रवेश किया अन्यथा देखने, सुनने, खाने, पीने, गर्भाधान करने आदि समस्त इन्द्रिय विषयों का अभिमानी आत्मा परमात्मा को ही मानना पड़ेगा। और यदि ऐसा माना तो इससे परमात्मा के प्रामाण्यता में धब्बा लगता है। दोनों का प्रवेश मानने ही से इस खण्ड के अन्तिम भाग की संगति भी लग सकती है। अन्यथा उस उत्पन्न हुए जीव ने व्यापक ब्रह्म को देख कर जो यह कहा कि "इदम् अदर्शम् अहो।" (अहो इस (ब्रह्म) को देखो) इत्यादि, ये वाक्य एक आत्मा अपने ही लिए तो नहीं कह सकता। फिर यहाँ तो देखने वाले को "उत्पन्न हुआ (जीव)" और जिसे देखा उसे स्पष्ट शब्द में 'ब्रह्म' कहा गया है।

(ख) जीव शरीर में कब प्रविष्ट होता है? इसी उपनिषद् में आगे बतलाया गया है ‡ कि जीव प्रथम पिता के शरीर में आकर पिता के वीर्य के साथ, माता के शरीर में जाता है। और वह वीर्य तथा रक्त और तीसरा जीव तीनों जब मिल जाते

ॐ तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्॥ (अर्थात् उसको रचकर उसमें स्वयं (ईश्वर) अनुप्रविष्ट हुआ) (तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मानन्द वल्ली अनुवाक ६)

‡ देखो इसी उपनिषद् का चौथा खण्ड।

हैं, तब इसी का नाम गर्भ की स्थापना होता है। यदि ऐसा न होता अर्थात् रज और वीर्य के साथ जीव शामिल न होता तो गर्भ स्थापित नहीं हो सकता था। संसार में चीजें दो प्रकार से बढ़ती हैं:—

(१) एक बाहर से जैसे पत्थर, लोहा, सोना, चाँदी, आदि और (२) दूसरे भीतर से जैसे वृक्ष, पशुओं और मनुष्यों के शरीर आदि। इन दोनों प्रकार की वस्तुओं की बढ़ोतरी में यह अन्तर क्यों है? इसका कारण जीव का होना और न होना है। जिनमें जीव नहीं होता वे वस्तुयें बाहर से बढ़ती हैं और जिनमें जीव होता है वे भीतर से बढ़ा करती हैं। गर्भ भीतर से बढ़ा करता है इसलिये मानना पड़ता है कि उसके भीतर जीव है। अन्यथा वह न बढ़ सकता और न स्थापित हो सकता था, केवल रजोवीर्य के मेल से गर्भ स्थापित नहीं हुआ करता।

यदि जीव शरीर म प्रारम्भ ही से आ जाता है, तब यहाँ यह क्यों कहा गया कि वह शरीर की सीमा को फाड़ कर शरीर में प्रविष्ट हुआ? इसका उत्तर यह है कि यह समस्त प्रकरण, जो इन्द्रियों द्वारा अन्न ग्रहण करने से प्रारम्भ होता है, आलंकारिक है। अन्यथा आँख, कान आदि किस प्रकार अन्न ग्रहण करने का यत्न कर सकते थे? और उनकी असफलता पर उदान ने किस प्रकार अन्न ग्रहण कर लिया? इत्यादि।

शरीर का काम बिना जीव के चल नहीं सकता था, इसलिये अलंकार द्वारा ही उसका प्रवेश दिखला दिया गया। और मूर्धा

के द्वारा प्रवेश दिखलाने का एक कारण है। एक दूसरी उपनिषद् में एक जगह कहा गया है कि "शरीर में हृदय की १०१ नाड़ियों में से एक (सुष्मणा) मूर्धा में जाकर समाप्त होती है" (उसकी समाप्ति ही के स्थान का नाम "ब्रह्मरन्ध्रचक्र" है।) जब जीव की मोक्ष होती है तब वह इसी मार्ग से शरीर से निकलता है। और जब उसकी अन्य (आवागमन से सम्बन्धित) गतियाँ होती हैं तब वह अन्य मार्गों से, शरीर से निकला करता है"। *

इससे स्पष्ट है कि शरीर में आने के लिये नहीं; अपितु शरीर से बाहर निकलने के लिये यह आनन्द (मोक्ष) दायक, मूर्धा-मार्ग है। इस उपनिषद् में अलंकार की पूर्ति के लिये जीव का शरीर में प्रवेश दिखलाना था, इसलिये इसी आनन्दप्रद मार्ग से उसका प्रवेश दिखला दिया।

(३) शरीर में जीव कहाँ रहा करता है? इसके लिये इस खण्ड में कुछ न कहा जाकर केवल ३ वार यह स्थान, यह स्थान, यह स्थान लिख दिया है। उसी प्रकरण में तीन स्वप्नों का नाम भी लिया गया है, जिसका तात्पर्य जागृत, स्वप्न और सुषुप्ता-वस्थाओं से है। इसीलिये टीकाकारों ने जागृतावस्था में जीव का दाहनी आँख में, स्वप्नावस्था में कण्ठ (अथवा मन) में, और सुषुप्तावस्था में उसका हृदय में होना बतलाया है। शंकराचार्य

---

* शतञ्चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासाम्मूर्धानमभिनिःसृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति॥
कठोपनिषद् ६।१६

से लेकर प्रायः सभी टीकाकार इससे सहमत हैं।

(४) उसी हृदय में होता हुआ जीव, परमात्मा का साक्षात्कार किया करता है इसीलिये खण्ड के अन्त में जीव द्वारा ब्रह्म के साक्षात करने की बात लिखदी है। जीव ने जब हृदय में, महान् प्रभु को साक्षात किया तो प्रसन्न होकर उसने कहा कि "अहो उसको देखा"। संस्कृत के शब्द ये हैं:—"इदम्, अदर्शम् अहो"। इस "इदम्" में "अदर्शम्" का "द" और "र" लेकर एक संक्षिप्त वाक्य (ईदम्, अदर्शम्) का "इदन्द्र" बना लिया गया और ईश्वर का यह "इदन्द्र" नाम इसीलिये है कि जीव उसका साक्षात्कार किया करते हैं।

उसी इदन्द्र को, परोक्षरूप देने के लिये "इन्द्र" कर दिया गया है क्योंकि देवगण (धीर विद्वान) परोक्ष प्रिय हुआ करते हैं।

इति तृतीयः खण्डः

इत्यैतरेय द्वितीयारण्यके चतुर्थोऽध्यायः ॥

अथ चतुर्थः खंडः

पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो भवति। यदेतद्रेतस्तदेतत्सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः सम्भूतमात्मन्येवात्मानं बिभर्ति तद्यदा स्त्रियां सिञ्चत्यथैनज्जनयति तदस्य प्रथमं जन्म ॥ १॥ तत् स्त्रिया आत्मभूयं गच्छति यथा स्वमङ्गं तथा। तस्मादेनां न हिनस्ति सास्यै तमात्मानमत्र गतं भावयति ॥ २ ॥ सा भावयित्री भावयितव्या भवति तं स्त्री गर्भं बिभर्ति सोऽग्र एव कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयति स यत्कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयत्यात्मानमेव तद्भावयत्येषां लोलानां सन्तत्या एवं सन्तता ही मे लोकास्तदस्य द्वितीयं जन्म ॥ ३ ॥ सोऽस्यायमात्मा पुण्येभ्यः कर्मभ्यः प्रतिधीयते। अथास्याऽयमितर आत्मा कृत कृत्यो वयोगतः प्रैति स इतः प्रयन्नेव पुनर्जायते तदस्य तृतीयं जन्म ॥ ४ ॥ तदुक्तमृषिणा "गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनि मानि विश्वा शतं मा पुर आयसीररक्षन्नधः

श्येनो जवसा निरदीयमिति ॥ (ऋग्वेदे मण्डले ४ सूक्तम् २७ । १) गर्भ एवैतच्छयानो वामदेव एवमुवाच ॥ ५ ॥ स एवं विद्वानस्माच्छरीरभेदादूर्ध्व उत्क्रम्यामुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान्कामानाप्त्वाऽमृतः समभवत्समभवत् ॥ ६ ॥

इति चतुर्थः खण्डः

अर्थ—(पुरुषे, ह, वै, अयम्, अदितः गर्भ भवति) पुरुष (पिता के शरीर) में निश्चय पहले ही से यह जीव गर्भ के (तौर पर) होता है (यत्, एतत्, रेतः) जो यह वीर्य (कहा जाता है) (तत्, एतत्, सर्वेभ्यः, अङ्गेभ्यः, तेजः, सम्भूतम् आत्मनि, एव, आत्मानम्, बिभर्ति) वह यह (वीर्य) मनुष्य के शरीर में) समस्त अँगों से तेज (रूप में) इकट्ठा हुआ है। इस (पुत्र के तौर पर उत्पन्न होने वाले) आत्मा को (पुरुष) अपने आत्मा में (धारण करके) रक्षा करता है। (तत्, यदा, स्त्रियाम्, सिञ्चति, अथ. एतत्, जनयति, तत्, अस्य, प्रथमम्, जन्म) उस (वीर्य) को जब) पुरुष=पिता, जिसके शरीर में उत्पन्न होने वाले पुत्र का आत्मा मौजूद है) स्त्री में सींचता है तब वह (पिता) इस (अपने गर्भभूत) को जन्म देता है। वह इस (पिता के वीर्य में स्थित पुत्र के आत्मा) का पहला जन्म है ॥ १ ॥

(तत्, स्त्रियाः, आत्मभूयम्, गच्छति, यथा, स्वम, अङ्गम्, तथा) वह (गर्भ अर्थात् आत्मा सहित वीर्य) स्त्री का शरीर

बन जाता है जैसे उसका अपना अङ्ग। (तस्मात्, एनाम्, न, हिनस्ति) इस लिए उसको पीड़ा नहीं देता। (सा, अस्य, एतम् आत्मानम्, अत्र, गतम्, भावयति) वह (स्त्री) इस पुरुष के इस (गर्भस्थ) आत्मा को अपने शरीर में मिला हुआ जानती है॥ २॥

(सा, भावयित्री, भावयितव्या, भवति) वह स्त्री गर्भ की रक्षा करती हुई (स्वयं) रक्षणीय होती है। (तम्, गर्भम्, स्त्री, बिभर्ति) स्त्री उस गर्भ को धारण करती है। (सः, अग्रे, एव, कुमारम् जन्मनः, अग्रे, अधिभावयति,) वह (पिता) उस कुमार को जन्म से पहिले भी और जन्म के बाद भी बढ़ाता है। (सः, यत्, कुमारम्, जन्मनः, अग्रे, अधिभावयति, आत्मानम्, एव, तत् भावयति) वह पिता जो जन्म से पहले कुमार को बढ़ाता है (रक्षा करता है) वह (मानो) अपने आप ही को बढ़ाता है, (एषाम्, लोकानाम्, सन्तत्या) इन लोकों के फैलाव के लिए। (एवम्, सन्तताः, हि, इमे, लोकाः) इसी प्रकार फैले हुए ये लोक हैं। (तत्, अस्य, द्वितीयम्, जन्म) यह इसका दूसरा जन्म है॥ ३॥

(सः, अस्य, अयम्, आत्मा, पुण्येभ्यः, कर्मभ्यः, प्रतिधीयते) वह इस (पिता) का, यह आत्मा (कुमार = पुत्र) पुण्य कर्मों के लिये (पिता का) प्रतिनिधि होता है। (अथ, अस्य, अयम्, इतरः, आत्मा, कृतकृत्यः, वयोगतः, प्रैति) और इस (पिता) का यह दूसरा (पिता का असली अभिमानी) आत्मा

कृत्कृत्य और वृद्ध होकर चल देता है। (सः, इतः, प्रयन्, एवं, पुनः, जायते) वह यहां से जाते ही फिर जन्म ले लेता है। (तत्, अस्य, तृतीयम् , जन्म) वह इसका तीसरा जन्म है ॥ ४ ॥

(तत , उक्तम् , ऋषिणा) ऐसा ही ऋषि ने कहा है :—

"(नु, अहम् , गर्भे, सन् एषाम् , देवानाम् , विश्वा, जनिमानि, अनु, अवेदम्) मैंने गर्भ में रहते हुए ही, इन देवों के समस्त जन्मों को जाना है। (मा, शतम्, आयसी, पुरः, अरक्षन्, अधः, श्येनः, जवसा, निरदीयम, इति) लोहे के (समान) सौ (अनेक) पुरों (शरीरों=योनियों) ने मुझे रक्षित रक्खा अब मैं (उसबन्धन से) बाज पक्षी के समान वेग से निकल आया हूं।"

(गर्भे, एव, शयानः, वामदेवः, एवम् , उवाच) गर्भ ही में सोये हुये वामदेव ने इस प्रकार कहा (जैसा वेद मन्त्र में कहा गया है) ॥ ५ ॥

(सः, एवम् , विद्वान् अस्मात् , शरीर भेदात, उर्ध्वम् , उत्क्रम्य, अमुष्मिन् , स्वर्गे, लोके, सर्वान्, कामानाप्त्वाऽमृतः समभवत , समभवत) वह विद्वान् (वामदेवः) इस प्रकार शरीर छोड़कर, ऊपर उठकर, उस स्वर्ग लोक में, समस्त कामनाओं को पाकर अमर हो गया ॥ ६ ॥

व्याख्या—इस खण्ड में मनुष्य के तीन जन्मों के होने की बात कही गई है:—

पहला जन्म—पिता के शरीरान्तर्गत वीर्य में, उत्पन्न होने

वाले पुत्र का आत्मा प्रविष्ट होता है। वीर्य (बीज) चूँकि समस्त शरीर का एकत्रित तेज होता है इसलिए इस में उसी प्रकार समस्त शरीर का ढाँचा मौजूद रहता है जिस प्रकार वट वृक्ष के बीज में वट वृक्ष का समस्त ढाँचा। जब पिता उसी वीर्य को, जिसमें उत्पन्न होने वाली सन्तति का आत्मा मौजूद होता है, माता के शरीर में सिंचित करता है तब वह पिता अपने वीर्य में मौजूद आत्मा को जन्म देता है। यह उसका पहला जन्म होता है। यहां यह बात बिलकुल साफ़ है कि जीव शरीर में शिर फोड़ कर नहीं अपितु उसके बनने से पहिले ही जब तक उस शरीर के कारण गर्भ का प्रारम्भ भी, माता के शरीर में नहीं होता, उसी गर्भ का आधार बनने के लिए पिता के शरीर में आकर उसके वीर्य में ठहरता है।

दूसरा जन्म—माता गर्भ को अपने शरीर का अँग बनाकर उसकी रक्षा करती है इसलिए वह गर्भ माता को भार रूप होकर कष्ट नहीं देता। ऐसी गर्भवती माता सभी के रक्षा का पात्र होती है। पिता गर्भ गत सन्तति की, उत्पन्न होने से पहिले जब वह गर्भ रूप में होता है, और उत्पन्न होने के बाद भी उसकी रक्षा करता हुआ उसके विकास का कारण बनता है। संसार का विस्तार भी इसी प्रकार गर्भ और सन्तति की रक्षा द्वारा, हुआ करता है इसीलिए इस प्रकार सन्तान पैदा करके उसकी रक्षा करने को, पितृ ऋण से उऋण होना कहा जाता है। इस प्रकार गर्भ गत बालक का जन्म ले लेना, दूसरा जन्म कहा जाता है।

तीसरा जन्म—यह उत्पन्न पुत्र, अच्छे और पुण्य कर्मों के लिए पिता का प्रतिनिधि होता है। पिता का आत्मा कृतकृत्य हो कर, शरीर के वृद्ध होजाने पर संसार से चल देता है और इस प्रकार शरीर छोड़ते ही वह फिर जन्म ले लेता है यह उसका तीसरा जन्म होता है क्योंकि उस (पिता) के भी पुत्रवत् दो जन्म पहिले हो चुके थे।

इसी की पुष्टि ऋग्वेद के एक मन्त्र से की गई है। इस मन्त्र में दो बातें कही गई हैं:—(१) "गर्भ में रहते हुए ही मैंने इन देवों के समस्त जन्मों को जान लिया है।" यह बात ऐसे जीवात्मा कहते और कह सकते हैं जिन्होंने मिथ्या ज्ञान को दूर करके अपने को समुज्ज्वल बनाकर प्रत्येक प्रकार की अशुद्धि से अपने को रहित करलिया है। देवों से तात्पर्य यहाँ इन्द्रियों का है। इन्द्रियों के जन्मों से मतलब अपने ही पूर्व के जन्मों से है संयम करने की योग्यता प्राप्त कर लेने वाले विद्वान् अपने पिछले जन्मों का हाल जान लिया करते हैं जैसा योगदर्शन में कहा गया है:—

"संस्कार साक्षात्करणात्पूर्वजाति ज्ञानम्।"

[योगदर्शन।]

अर्थात् संस्कारों के साक्षात् कर लेने से पहले जन्म का ज्ञान होजाता है।

(२) दूसरी बात मन्त्र में यह कही गई है:—"लोहे के सौ (अनेक) पुरों (योनियों) ने मुझे (उसी तरह से) रक्षित

रक्खा (जैसे पिंजड़े में पक्षी रक्खे जाया करते हैं) अब मैं बाज पक्षी की तरह वेग से (उन पिंजड़ों से) निकल आया हूं।" मोक्ष तक पहुँचने में यह स्पष्ट ही है कि जीव को अनेक जन्मों के बन्धनों में से होकर गुजरना पड़ता है। परन्तु जो उनसे निकलने का यत्न करते हैं वे निकल ही जाया करते हैं जैसे वामदेव के लिए इस खण्ड के अन्त में कहा गया है, यही भाव विस्तृत और स्पष्ट शब्दों में गर्भोपनिषद् में प्रदर्शित किए गए हैं। उनका उपयोगी भाग यहाँ उद्धृत किया जाता है :—

गर्भोपनिषद्—"अथ नवमे मासे सर्वलक्षणज्ञानकरण सम्पूर्णो भवति पूर्वं जातिं स्मरति शुभाशुभं च कर्म विन्दति। पूर्वयोनि सहस्राणि दृष्ट्वा चैव ततो मया। आहारा विविधा भुक्ताः पीता नाना विधास्तनाः॥ जातश्चैव मृतश्चैव जन्म चैव पुनः पुनः यन्मया परिजनस्यार्थे कृतं कर्म शुभाशुभम्॥ एकाकी तेन दह्येऽहं गतास्ते फलभोगिनः। अहो दुखोदधौ मग्नो न पश्यामि प्रतिक्रियाम्॥ यदि योन्याः प्रमुच्येऽहं तत्प्रपद्ये महेश्वरम्। अशुभक्षयकर्तारं फलमुक्तिप्रदायकम्॥

अर्थात्—गर्भ के ९वें मास जब समस्त ज्ञान और कर्मेन्द्रिय पूर्ण होजाती हैं। पूर्व जन्म का (जीव) स्मरण, करता है। शुभाशुभ कृत कर्मफल को प्राप्त होता है।

इस से पहले हजारों योनियों में जा चुका हूं। अनेक प्रकार के अहार किए अनेक माताओं के स्तनों से दूध पिया।

जन्मा, मरा फिर वार वार इसी प्रकार जन्म लिया। और परिवार के लिए अच्छे बुरे कर्म किए ॥

अब मैं अकेला ही उन से जल रहा हूं (अर्थात् उनका फल भोग रहा हूँ। सुख भोगी (परिवार वाले) सब चले गये। मैं दुख के समुद्र में डूबा हुआ उससे निकलने का कोई मार्ग नहीं देखता ॥

यदि मैं इस योनि बन्धन से छूट जाऊं तो ईश्वर की शरण लूँगा। जो दुःख विनाशक और मुक्ति दाता है।

निरुक्त के परिशिष्ट भाग में भी यास्काचार्य्य ने इस प्रकार के भाव प्रकट किए हैं :—

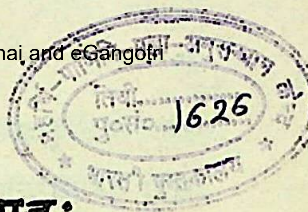
निरुक्त—मृतश्जातं पुनर्जातो जातश्चाहं पुनर्मृतः ।
नाना योनि सहस्राणि मयोषितानि यानि वै ॥
आहारा विविधा भुक्ताः पीता नाना विधाःस्तनाः ।
मात्रो विविधा दृष्टाः पितरं सुहृदस्तथा ॥
आवाङ्मुखः पीड्यमानो जन्तुश्चैव समन्वितः ॥

अर्थात्—"मर कर मैं फिर जन्मा और जन्म लेकर फिर मरा।" सहस्रों योनियों का मैंने आश्रय लिया।

अनेक प्रकार के अहारों का भोग किया और अनेक माताओं के स्तन पिये। अनेक माता पिता और मित्र देखे। गर्भ में नीचे को शिर किए हुए, दुखी प्राणी, ऐसा सोचता है ॥

इति चतुर्थः खण्डः

इत्यैतरेयारण्यके पञ्चमोऽध्यायः



अथ पञ्चमः खण्डः



कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे, कतरः स आत्मा । येन वा रूपं पश्यति येन वा शब्दं शृणोति येन वा गन्धानाजिघ्रति येन वा वाचं व्याकरोति येन वा स्वादु चास्वादु च विजानाति ॥ १ ॥ यदेतद्धृदयं मनश्चैतत्संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधा दृष्टिर्धृतिर्मतिर्मनीषा जूतिः स्मृतिः संकल्पः क्रतुरसुः कामो वश इति । सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति ॥ २ ॥ एष ब्रह्मैष इन्द्र एष प्रजापतिरेते सर्वे देवा इमानि च पंचमहा भूतानि पृथिवीवायुराकाश आपोज्योतींषीत्येतानीमानि च क्षुद्रमिश्राणीव बीजानीतराणि चेतराणि चाण्डजानि च जारुजानि च स्वेदजानि चोद्भिज्जानि चाश्वा गावः पुरुषा हस्तिनो यत्किञ्चेदं प्राणि जङ्गमं च पतत्रि च यच्च स्थावरं सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म ॥ ३ ॥ स एतेन प्राज्ञेनात्मना

ऽस्माल्लोकादुत्क्रम्यामुष्मिन्स्वर्गे लोके सर्वान्कामानाप्त्वा ऽमृतः समभवत्समभवत् ॥ इत्योम् ॥ ४ ॥

इति पञ्चमः खण्डः

अर्थ—(कः, अयम्, आत्मा, इति, वयम्, उपास्महे) यह आत्मा कौन है जिसकी हम उपासना करते हैं। (कतरः, सः, आत्मा) दोनों में से वह कौन आत्मा है ? (येन, वा, रूपम्, पश्यति) जिससे रूप को देखता है, (येन, वा, शब्दम्, शृणोति) या जिससे शब्द सुनता है, (येन, वा, गन्धान्, आजिघ्रति) या जिससे गन्धों को सूँघता है, (येन, वा, वाचम्, व्याकरोति) या जिससे वाणी को व्यक्त करता है, (येन, वा, स्वादु, च, अस्वादु, च, विजानाति) या जिससे स्वादिष्ट और अस्वादिष्ट (पदार्थों) को जानता है ॥ १ ॥

(यत्, एतत्, हृदयम्, मनः, च) जो यह हृदय और मन है (एतत, संज्ञानम्, अज्ञानम्, विज्ञानम्, प्रज्ञानम्, मेधा, दृष्टिः, धृतिः, मतिः, मनीषा, जूतिः, स्मृतिः, संकल्पः, क्रतुः, असुः, कामः, वशः, इति) यह ज्ञान (शरीर और इन्द्रिय का) शासक होने की योग्यता, विशेष ज्ञान, चेतना, बुद्धि, दृष्टि, धृति, समझ, मननशीलता, वेग स्मृति, संकल्प, इरादा, श्वास लेना, काम और इच्छा हैं। (सर्वाणि, एव, एतानि, प्रज्ञानस्य, नाम धेयानि, भवन्ति) ये सब प्रज्ञान (चेतना) ही के नाम हैं ॥ २ ॥

(एष, ब्रह्म) यह ब्रह्म है, (एष, इन्द्रः) यह इन्द्र है, (एष,

प्रजापतिः) यह प्रजापति है। (एते, सर्वे, देवाः) ये सब देव, इमानि, च, पञ्च, महाभूतानि) ये पञ्च महाभूत, (पृथिवी, वायुः, आकाशः, आपः, ज्योतींषि, एतानि) पृथिवी, वायु, आकाश, जल और अग्नि ये (इमानि, च, क्षुद्रमिश्राणि, इव, बीजानि) ये छोटे और मिले जुले से बीज, (इतराणि, च, अण्डजानि, च, जारुजानि, च, स्वेदजानि, च, उद्भिजानि, च, अश्वाः, गावः, पुरुषाः, हस्तिनः,) और जो अण्डे से उत्पन्न होने वाले, जेर से उत्पन्न होने वाले (मनुष्यादि) और पसीने से उत्पन्न होने वाले, और पृथिवी को फोड़ कर उत्पन्न होने वाले (वृक्षादि), घोड़े, गाय, पुरुष, और हाथी, (यत्, किम्, च, इदम्, प्राणि, जङ्गमम्, च, पतत्रि, च, यत्, च, स्थावरम्) और जो कुछ यह प्राणी जङ्गम, परंद और जो स्थावर, (सर्वम्, तत्, प्रज्ञानेत्रम्) वे सब प्रज्ञानेत्र हैं। (प्रज्ञाने प्रतिष्ठितम्) प्रज्ञान में प्रतिष्ठित हैं। (लोकः, प्रज्ञानेत्रः) लोक प्रज्ञानेत्र है। (प्रज्ञा, प्रतिष्ठिता) प्रज्ञान पर प्रतिष्ठित है, (प्रज्ञानम्, ब्रह्म) प्रज्ञान ब्रह्म है ॥ ३ ॥

(सः, एतेन, प्रज्ञेन, आत्मना) वह इस प्राज्ञ आत्मा से (अस्मात्, लोकात्, उत्क्रम्य) इस लोक से ऊपर चढ़ कर (अमुष्मिन्, स्वर्गे, लोके) उस स्वर्ग लोक में (सर्वान्, कामान्, आप्त्वा) समस्त इच्छाओं को पूरी करके, (अमृतः, समभवत्, समभवत्) अमर हो जाता है ॥ (इति ओम्) ॥ ४ ॥

व्याख्या—इससे पहले इस उपनिषद् में दो शरीर और दो आत्माओं का विवरण दिया गया है। उनमें से एक तो वह है

जिसका शरीर विराट् रूप है और जिसके इन्द्रियों से अग्नि आदि भूतों की उत्पति हुई है, और दूसरा शरीर वह जिसके इन्द्रियों में, ये पंचभूत इन्द्रिय शक्ति हो कर, प्रविष्ट हुये। इस दूसरे शरीर के लिये ही कहा गया है कि इसमें रहने वाला आत्मा (जीव) पिता के वीर्य में प्रविष्ट हो कर, उसी के साथ माता के शरीर में जाकर गर्भ की स्थापना करता है। विराट् रूपी शरीर में रहने वाला आत्मा ब्रह्म है और माता के शरीर से गर्भ में आकर उत्पन्न होने वाला जीव है। अब इस खंड के प्रारम्भ ही में यह प्रश्न किया गया है कि इन दोनों आत्माओं में से वह कौन सा आत्मा है जिसकी हम (मनुष्य गण) उपासना करते हैं? क्या वह जिसके शरीर में होने से हम देखते सुनते आदि हैं? इस प्रश्न का उत्तर स्वयं उपनिषद् के पाठक दे सकें; इसके लिये उपनिषद्कार ने वर्णन किया है कि जो मन और हृदय है वह "संज्ञान" आदि १६ वस्तुओं में ही हैं। और इन सोलह वस्तुओं में से, एक जो प्रज्ञान है, जिसका नाम प्रारम्भ ही में लिया गया है, बाकी "संज्ञान" आदि उसी का रूप अथवा नाम है। इतना वर्णन करने के बाद अब उस असली प्रश्न का उत्तर दिया है कि वह प्रज्ञान ही ब्रह्म है, वही इन्द्र और वही प्रजापति है। बाक़ी जीव जगत् अथवा प्राकृतिक जगत क्या है इसके लिये कहा गया है कि ये सब उसी प्रज्ञा (प्रज्ञान) के नेत्र हैं। और उसी प्रज्ञा में प्रतिष्ठित हैं। अर्थात् वही प्रज्ञान रूपी ब्रह्म इन सब का आश्रय स्थान है। और इसी प्रज्ञा रूप

ब्रह्म के आश्रय से, मनुष्य, इस लोक से ऊपर होकर, आप्तकाम हो जाता और मोक्ष प्राप्त कर लिया करता है। यहां (इस खंड में) मन को चेतना और संज्ञानादि को उसी चेतना का रूप अथवा नाम क्यों कहा गया है उत्तर स्पष्ट है और वह यह है कि शरीर में जीव के होने से उसकी चेतना का प्रकाश समस्त शरीर में उसी प्रकार फैला हुआ रहता है जिस प्रकार लेम्प का प्रकाश कमरे में और जिस प्रकार उस लेम्प के प्रकाश से कमरे के प्रत्येक वस्तु प्रकाश मय होते हैं, उसी प्रकार आत्मा की चेतना के प्रकाश से भी समस्त मन और इन्द्रियादि, शरीरावयव चेतना मय और प्रकाशित रहते हैं।

ब्रह्म को प्रज्ञान क्यों कहा गया ? इसलिये चेतना, आनन्द और सत्य के साथ उसका स्वरूप है और ब्रह्म को इसी लिये सच्चिदानन्द स्वरूप कहते हैं।

इति पञ्चमः खण्डः।

इत्यैतरेयारण्यके षष्ठोऽध्यायः॥

इत्यैतरेयोपनिषत्संपूर्णा ॥



